ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA
RNI TITLED NO. UPBIL04292
RNI REG. NO. UPBIL/2014/66218 PP. NO.- 148-151

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-13, No.-II, Issues-17, YEAR- Sept. -2020

कर्म के सिद्धान्त का महत्त्व

जितेन्द्र गोपाल
ग्राम– भागीरथ बिगहा राजा बाजार, जहानाबाद (बिहार), भारत

Received- 19.08.2020, Revised- 23.08.2020, Accepted - 26.08.2020 E-mail: - dr.ramanyadav@gmail.com

सारांश : *सभी वर्ग और सभी स्तर के भारतीय किसी–न–किसी रूप में कर्म के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं तथा उसे अपनाते हैं। बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म ने भले ही वैदिक परम्परा के अनेक विषयों का विरोध किया तथा ब्राह्मणों की प्रभुता की उपेक्षा की, लेकिन फिर भी इन दोनों धर्मों ने कर्म के सिद्धान्त को स्वीकार किया। यह कर्म का ही सिद्धान्त है जो तीन धर्मों –हिन्दू, बौद्ध तथा जैन धर्म–को कुछ विषयों में विचारों की एकता प्रदान करता है। मोक्ष को अन्तिम पुरुषार्थ अर्थात् मानव–जीवन का चरम ध्येय माना गया है, उस मोक्ष का भी सम्बन्ध इस कर्म के सिद्धान्त से अति घनिष्ठ है। कहने का तात्पर्य यह है कि कर्म सिद्धान्त का विस्तार व प्रभाव भारतीय जीवन के प्रत्येक पक्ष पर स्पष्ट है और प्रत्येक भारतीय इसके विषय में सचेत है। अच्छे कर्म का फल अच्छा और बुरे कर्म का फल बुरा होता है और कर्म के फल को टाला नहीं जा सकता।*

कुंजीभूत शब्द– जैन धर्म, वैदिक परम्परा, प्रभुता, स्वीकार,विषयों, विचारों, प्रदान, मोक्ष, अन्तिम पुरुषार्थ ।

कर्म का अर्थ (Meaning of Karma)- 'कर्म' शब्द 'कृ' धातु से बना है। इसका अर्थ करना, व्यापार या हलचल होता है। इसी सामान्य अर्थ में गीता में इसका प्रयोग हुआ है। मनुष्य जो कुछ करता है, जैसे–खाना, पीना, खेलना, रहना, उठना, बैठना, हँसना, रोना, देखना, बोलना, सुनना, चलना, देना, लेना, सोना, जागना, मारना, लड़ना, मनन और ध्यान करना, आज्ञा और निषेध करना, दान देना, यज्ञ करना, खेती और व्यापार करना, इच्छा करना, निश्चय करना, चुप रहना इत्यादि–ये सब गीता के अनुसार कर्म ही हैं, चाहे वह कर्म कायिक हो, वाचिक हो अथवा मानसिक हो (गीता, 2ध्8ए) गीता के अनुसार जीना–मरना भी कर्म ही है। अवसर आने पर यह भी विचार के उपस्थिति होने पर कर्म शब्द का अर्थ 'कर्त्तव्य–कम' अथवा 'विहित–कर्म' हो जाता है (गीता, 4ध्16) केवल इतना ही नहीं, सब चर–अचर सृष्टि के अचेतन वस्तु के व्यापार में भी कर्म शब्द का ही उपयोग होता है। यह कर्म का व्यापक और सही अर्थ है।

जहाँ तक कि मनुष्य द्वारा किए गए कर्मों का सम्बन्ध है, इस विषय में यह स्मरणीय है कि कर्म के अर्थ के अन्तर्गत तीन तत्त्वों का समावेश है। ये तत्त्व हैं–कर्त्ता, परिस्थिति तथा प्रेरणा। कर्म किसी–न–किसी व्यक्ति द्वारा सम्पादित होता है और उस कार्य को करने वाला वह व्यक्ति कर्त्ता कहलाता है। कर्त्ता कर्म को शून्य या आसमान में नहीं करता। कर्म के सम्पादन के लिए एक परिस्थिति की आवश्यकता होती है। इतना ही नहीं, प्रत्येक कर्म का कोइ–न–कोई कारण अवश्य ही होता है। स्वाभाविक अर्थ में कर्म कोई चमत्कार या जादुई अवधारणा नहीं है जोकि बिना किसी कारण के ही घटित होती हो। यह कारण ही उस कर्म की प्रेरणा है या प्ररेक शक्ति है। यदि मनुष्य सांस भी ले रहा है तो उसका भी एक कारण है। उसी प्रकार चुप रहने का भी कारण होता है। अतः स्पष्ट है कि कर्म के अन्तर्गत कर्त्ता, परिस्थिति तथा प्रेरणा तीनों महत्त्वपूर्ण हैं। कर्म की अवधारणा में इस तथ्य को नहीं भूलना चाहिए।

कर्म के विभिन्न सिद्धान्त (Various Theories of Karma)- 'कर्म' के सम्बन्ध में विभिन्न शास्त्रकारों ने अपने–अपने विचारों को प्रस्तुत किया है। इनके सिद्धान्तों को हम निम्न प्रकार से प्रस्तुत कर सकते हैं–

मनु का सिद्धान्त– मनु के अनुसार समस्त कर्म मन, वाणी तथा शरीर की ही उपज हैं और ये कर्म अच्छे अथवा बुरे प्रभाव उत्पन्न करते हैं जिसके फलस्वरूप मनुष्यों की उत्तम, मध्यम या अधमगति (जन्मान्तर की प्राप्ति) होती है। इन्हीं मन, वाणी तथा शरीर के द्वारा मनुष्य विभिन्न प्रकार के पाप–कर्मों को कर सकता है। उदाहरणार्थ, पहले मन के अनुसार अन्याय से परायी चीजों को लेने की इच्छा और मन से दूसरों का बुरा चाहना तथा 'परलोक में कुछ नहीं है' ऐसा विश्वास मन में पनपाना–यह तीन प्रकार का मन से सम्बन्धित या मानस पाप–कर्म है। कठोर और असत्य भाषण तथा सब प्रकार की चुगली और अनाश्यक बकवास, यह चार प्रकार का वाणी से उत्पन्न वाङ्मय पाप–कर्म हैं। उसी प्रकार अन्याय से दूसरे का धन लेना और शास्त्र के विधान के अतिरिक्त हिंसा तथा दूसरे की स्त्री से यौन–सम्बन्ध स्थापित करना, यह तीन प्रकार का

PIF/6.500 *ASVS Reg. No. AZM 561/2013-14*

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-13, No.-II, Issues-17, YEAR- Sept. -2020

शारीरिक पाप–कर्म है। मन, वाणी तथा शरीर से किए हुए शुभ–अशुभ कर्म–फल को मनुष्य क्रमशः अपने मन, वाणी तथा शरीर से ही भागता है।

मनु के अनुसार, शरीर के कर्म–दोषों या पाप–कर्मों से मनुष्य वृक्षाति योनि, वाणी के कर्म–दोष से पक्षी और मृग की योनि तथा मन के कर्म–दोषों से चाण्डालादि कुल में जन्म लेता है। एक व्यक्ति शुभ कर्मों से देवभाव, शुभ–अशुभ मिश्रित कर्मों से मनुष्यभाव को प्राप्त करता है तथा केवल अशुभ कर्मों से नीच योनियों में जन्म लेता है। मनु ने यह भी लिखा है कि मनुष्य को सत्वगुण वाले कर्मों को सर्वाधिक, रजोगुण वाले कर्मों को उससे कम तथा तमोगुल वाले कर्मों को सबसे कम करना चाहिए।

मनु के अनुसार वेद का अभ्यास,तप, ज्ञान, शौच, इन्द्रियों का निग्रह, धर्म–क्रिया और आत्मा मनन, ये सत्वगुण के लक्षण हैं। आरम्भ में रुचि होना फिर अर्धर्य, निषिद्ध कर्म को पकड़ना और निरन्तर विषय–भोग, ये रजोगुण के लक्षण हैं। लोभ, नींद, अधीरता, क्रूरता, नास्तिकता, अनाचारीपन, याचना, स्वभाव और प्रसाद, ये तमोगुल के लक्षण हैं।

शुभ या उत्तम कर्म कौन–कौन से हैं तथा उनकी करने से क्या फल मिलता है। इसका भी उल्लेख मनु ने किया है। उनके अनुसार वेद का अभ्यास, तप, ज्ञान, इन्द्रियों को रोकना तथा हिंसा न करना और गुरु की सेवा करना, या परम कल्याणकारी कर्म हैं। इन सबमें आत्मज्ञान सबसे श्रेष्ठ है, क्योंकि उससे मोक्ष प्राप्त होता है। इस लोक तथा परलोक में भोगार्थ जो कामना से कर्म किया जाता है उसको, मनु के अनुसार, 'प्रवृत्त' कर्म करने से देवताओं के साम्य को प्राप्त होता है तथा निवृत्त कर्म करने से पंचभूतों को लाँघकर मोक्ष को प्राप्त होता है। सब भूतों में आत्मा को और आत्मा से सब भूतों को बराबर देखने वाला व्यक्ति मोक्ष को प्रापत होता है। बिना पढ़ने वालों से ग्रन्थ को पढ़ने वाले श्रेष्ठ हैं, उनसे भी ग्रन्थ को कंठस्थ करने वाले तथा उनसे भी उसके अर्थ को जानने वाले (अर्थज्ञानी) और अर्थज्ञानियों से अनुष्ठान करने वाले क्रमशः अधिक श्रेष्ठ हैं। तप और विद्या ब्राह्मण का परम कल्याणप्रद कर्म है। तप से पाप दूर होता है और विद्या से मोक्ष प्राप्त होता है।

याज्ञवल्क्य का सिद्धान्त– याज्ञवल्क्य मनु द्वारा प्रस्तुत कर्म तथा उसके फल के सम्बन्ध में उपर्युक्त विचारों से सहमत हैं। याज्ञवल्क्य–स्कृति के टीकाकार बालक भट्ट के अनुसार धर्म एवं अधर्म कर्म के संचय के परिणाम या फल हैं। दूसरे शब्दों में कर्म के संचय के फलस्वरूप ही हमें धर्म या अधर्म, उत्तर या अधम गति, अवस्था या स्थिति प्राप्त होती है। कर्म के इस संचय से जो परिणाम उत्पन्न होते हैं या जो फल व्यक्ति को प्राप्त होता है, उन्हें निम्नलिखित तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है–

1. जाति अर्थात् उच्च या निम्न जाति में जन्म यानि उत्तम या अधम योनि को प्राप्त होना; 2. आयु अर्थात् जीवन का दीर्घ या अल्प विस्तार यानि ज्यादा या कम आयु को प्राप्त होना; 3. भोग अर्थात् आनन्द (सुख) अथवा कष्ट उठाना, मनुष्य को अपने जीवन में ऐसे कर्मों का संचय करना चाहिए जिससे कि उत्तम योनि, दीर्घायु तथा आनन्द की प्राप्ति उसके लिये सम्भव हो।

याज्ञवल्क्य के अनुसार, उचित कर्मों या सत्कर्मों का पालन ही मनुष्य का 'कर्म' है। यह 'धर्म' विभिन्न वर्णों तथा आश्रमों में अवस्थान करने वालों लिये अलग–अलग है। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण का प्रमुख कर्म ज्ञान का संचय तथा उसका वितरण (ज्ञानदान या विद्यादान) करना है, जबकि क्षत्रिय का उचित कर्म जनरक्ष है। वैश्य का धर्म 'अर्थ' से सम्बन्धित है तथा शूद्र का 'सेवा' से। याज्ञवल्क्य के अनुसार राजा का यह कर्त्तव्य है कि यदि कोई भी वर्ण, परिवार, वंश, सम्प्रदाय आदि अपने उचित धर्म अर्थात् कर्त्तव्य–कर्म से हट गया है तो उसे दण्ड दे एवं फिर उचित रास्ते पर लाये। इस प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम की अवस्था मेतं बल–वीर्य–ज्ञान का संचय करना, गुरु–सेवा तथा गुरु की की आज्ञा का पालन करना ही व्यक्ति का सबसे उचित कर्म या धर्म है। गृहस्थी के लिये गृहस्थ धर्म का पालन करना ही उचित कर्म तथा शुभ फलदायक धर्म है। याज्ञवल्क्य ने सामान्य तौर पर कुछ उचित कर्मों का उल्लेख किया है, जेसे–बलि, धार्मिक कृत्य व संस्कार, अनुशासन, किसी को हानि न पहुँचाना, दानशीलता तथा वेदों का अध्ययन।

शुक्रनीतिसार का सिद्धान्त– शुक्रनीतिसार के अनुसार, एक व्यक्ति का वर्तमान जीवन उसके पूर्वजन्म के कर्मों के द्वारा घटित होता है। दूसरे शब्दों में पूर्वजन्म के कर्मों के प्रतिफलन के रूप में ही मनुष्य का वर्तमान जीवन होता है, यद्यपि इसमें दैव का भी कुछ–कुछ हाथ हुआ करता है। इस अर्थ में जीवन में प्रत्येक वस्तु दैव एवं कर्म पर आधारित है। कर्म दो भागों में विभाजित है– एक तो वे कर्म जो पूर्वजन्म या जन्मों में किए गये हैं और दूसरे वे कर्म जो कि इस जन्म में व्यक्ति ने किये हैं। इन दोनों प्रकार के कर्मों का प्रभाव व्यक्ति के जीवन पर पड़ता है।

शुक्रीनीतिसार ग्रन्थ में यह स्वीकार किया गया है कि जीवन की परिस्थितियों को निर्धारित करने में दैव भी एक कर्त्ता है जोकि मनुष्य के भाग्य को निश्चित करता है, लेकिन उसका यह तात्पर्य नहीं है कि भाग्य ही पूर्ण रूप से यह निश्चित करता है कि व्यक्ति कया है या क्या होगा। इसका यह भी अर्थ नहीं है कि किसी व्यक्ति को किसी

PIF/6.500 *ASVS Reg. No. AZM 561/2013-14*

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-13, No.-II, Issues-17, YEAR- Sept. -2020

वस्तु के लिए प्रयत्न या परिश्रम नहीं करना चाहिए अथवा उसे अकर्मण्य जीवन बिताना चाहिये। वास्तव में प्रयत्नशीलता जीवन की गति है और उस गति को किसी भी व्यक्ति को नहीं रोकना चाहिए; दूसरे शब्दों में व्यक्ति को इस बात का यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिए कि वह ऐसे कर्मों को करे जिससे कि उसका जीवन उन्नत हो सके अथवा उसके भविष्य के भाग्य में आवश्यक परिवर्तन हो सके।

जैन–दर्शन का सिद्धान्त– इसके अनुसार जीव की अन्तर्निहित प्रवृत्तियों के द्वारा ही शरीर का निर्माण होता है अर्थात् जीव अपने कर्मों या संस्कारों के वश ही शरीर ध ारण करता है। पूर्वजन्म के कर्मों के कारण अर्थात् पूर्वजन्म के विचार, वचन तथा कर्म के कारण जीवन में वासनाओं की उत्पत्ति होती है। वासनाएं तृप्त होना चाहती हैं, फल यह होता है कि इनकी क्रियाशीलता के कारण एक विशेष प्रकार का शरीर बनता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन दर्शन के अनुसार जीव अपने कर्मों के अनुसार शरीर धारण करता है। शरीर को केवल स्थूल शरीर नहीं समझना चाहिए, बल्कि शरीर से इन्द्रिय, मत तथा प्राण का भी बोध होता है जिसके कारण जीव के स्वाभाविक गुण अभिभूत हो जाते हैं।

जैन–दर्शन के अनुसार माता–पिता से व्यक्ति को जो शरीर मिलता है उसे आकस्मिक नहीं समझना चाहिए। कर्म से ही यह निश्चित होता है कि एक व्यक्ति का जन्म किस वंश या परिवार में होगा। कर्मों से ही शरीर का रूप, रंग, आकार, आयु, ज्ञानेन्द्रि तथा कमेन्द्रिय की संख्या, उसके विशेष धर्म निर्धारित होते हैं। शरीर के कारण–रूप कर्मों एवं उनके सभी धर्मों को हम समष्टि और व्यष्टि से विचार कर सकते हैं। समष्टि–दृष्टि से कर्म समस्त वासनाओं का एक समूह है, जिसका फल समस्त–धर्म विशिष्ट शरीर है। जैन–दर्शन के अनुसार कर्मों की संख्या अनेक है। उसने प्रत्येक कर्म का नामकरण उसके फल के अनुसार किया है। जो कर्म यह निश्चित करता है कि व्यक्ति का जन्म किस गोत्र में होगा, उसे गोत्र–कर्म कहते हैं। जो ज्ञान को नष्ट करता है उसे ज्ञानावरणीय–कर्म कहते हैं, जो विश्वास को नष्ट करता है उसे दर्शनावरणीय–कर्म कहते हैं, जो मोह उत्पन्न करता है उसे मोहनीय–कर्म तथा जो दुःख उत्पन्न करता है उसे वेदनीय–कर्म कहते हैं। कर्मानुसार ही व्यक्ति के लिए बन्धन या मुक्ति का निर्धारण होता है। अतः सत्कर्म और ज्ञान ही मानव–जीवन का ध्येय होना चाहिए।

बौद्ध–दर्शन का सिद्धान्त– इसके अनुसार वर्तमान जीवन पूर्ववर्ती जीवन के कर्मों का ही फल है। साथ ही, वर्तमान जीवन के कर्मों का भविष्य के जीवन के साथ भी वही सम्बन्ध स्थापित है जो पूर्ववर्ती जीवन के कर्मों का वर्तमान जीवन से है। वर्तमान जीवन के कर्मों के कारण ही भविष्य–जीवन की उत्पत्ति होती है, साथ ही वर्तमान जीवन के कर्मों का फल भविष्य में मिलता है। महात्मा बुद्ध का उपदेश है कि कर्म दो तरह के होते हैं। एक तरह का कर्म राग, द्वेष तथा मोह के कारण होता है। दूसरे तरह का कर्म बिना राग, द्वेष तथा मोह के होता है। प्रथम प्रकार का कर्म हमारी विषयानुरक्ति अर्थात् विषय के प्रति आकषण की वृद्धि करता है तथा ऐसे संस्कारों को पैदा करता है जिनके कारण जन्म ग्रहण करना ही पड़ता है। दूसरे प्रकार का कर्म अनासक्तभाव से तथा संसार को अनित्य समझकर किया जाता है, जिससे पुनर्जन्म की सम्भावना नहीं रह जाती है।

महात्मा बुद्ध ने कहा था कि निर्णण–प्राप्ति के बाद बिल्कुल निष्क्रिय रहने की उनकी इच्छा हुई थी। यहाँ तक कि दूसरों को निर्माण–प्राप्ति का मार्ग बतलाने की भी उनकी इच्छा नहीं थी। किन्तु दुःख से पीड़ित मानव के लिए उनके हृदय में दया का संचार हुआ और वे लोक–कल्याण के कर्म में लग गए। जिस नौका द्वारा उन्होंने स्वयं दुःख–समुद्र को पार किया था उसको नष्ट कर देना उन्होंने उचित नहीं समझा, बल्कि उसे उन्होंने जनसाधारण के कल्याणार्थ लगा दिया।

वेदान्त–दर्शन का सिद्धान्त– इसके अनुसार मनुष्य–जीवन में कर्म के महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। मोक्ष प्राप्ति हो जाने पर भी शरीर रह सकता है क्योंकि वह 'प्रारब्ध कर्मों का फल है। कर्म तीन प्रकार के होते हैं।

1. संचित कर्म अर्थात् पूर्वकाल के कर्म जो जमा हैं;
2. प्रारब्ध कर्म अर्थात् पूर्वकाल के वे कर्म जिनका फल भाग रहा है; और 3. संचीयमान कर्म अर्थात् वे नए कर्म जो इस जीवन में जमा हो रहे हैं। तत्त्वज्ञान से संचित कर्म का क्षय तथा संचीयमान कर्म का निवारण होता है और इस तरह पुनर्जन्म के बन्धन से छुटकारा मिल जाता है। किन्तु प्रारब्ध कर्म का निवारण नहीं किया जा सकता। उसका फल भोगने के लिये यह शरीर (जो प्रारब्ध कर्म का ही फल है) रहता है और जब प्रारब्ध की शक्ति समाप्त हो जाती है तब शरीर का भी अन्त हो जाता है। जब स्थूल और सूक्ष्म शरीर का अन्त हो जाती है, तब जीवन्मुक्त की उस अवस्था (अर्थात जीवित अवस्था में ही मुक्ति पा जाना) को 'विदेह मुक्ति' कहते हैं।

अतः स्पष्ट है कि वेदान्त दर्शन के अनुसार पूर्वकाल के कर्मों। का फल मनुष्य को अनिवार्यतः भोगना पड़ता है और इस भोग के बाद मुक्त सम्भव है। स्वामी विवेकानन्द

PIF/6.500 *ASVS Reg. No. AZM 561/2013-14*

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-13, No.-II, Issues-17, YEAR- Sept. -2020

और लोकमान्य तिलक आादि नवीन वेदान्ती भी इसी आदर्श का अनुमोदन करते हैं। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार सेवामय कर्म ही ईश्वर की आराधना है, मरना तो एक दिन है ही, पर सेवामय कर्म करते हुए मना मुक्ति का सर्वोत्तम उपाय है।

गीता में कर्म का सिद्धान्त–कर्मयोग– श्रीमद्भगवद्गीता में प्रतिपादित 'कर्म' की व्याख्या को प्रस्तुत किए बिना कर्म के सिद्धान्त से सम्बन्धित कोई भी विवेचन अधूरा ही है। श्री अरविन्द के शब्दों में, 'प्रत्यक्ष अनुभव से यह स्पष्ट दिखाई देता है कि श्रीमद्भगवद्गीता वर्तमान युग में भी उतनी ही पथप्रदिर्शका एवं स्फूर्तिदात्री है जिनी कि महाभारत के युद्ध में समाविष्ट होते समय थी। गीता के सन्देश का प्रभाव केवल दार्शनिक अथवा विद्वच्चर्चा का विषय नहीं है, अपितु आचार–विचारों के क्षेत्र में भी विद्यमान होकर मार्ग बतलाने वाला है।"

कुरूक्षेत्र के युद्ध में अर्जुन युद्ध में रत होने से हिचकिचा रहे थे। उनकी शंका थी कि लड़ाई जैसे कर्म से आत्मा का कल्याण कैसे हो सकता है। इसी से जिन उदार पुरूषों ने परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर अपनी आत्मा का पूर्ण कल्याण कर लिया है वे इस संसार में कैसे बर्ताव करते हैं, यहीं से गीता के उपदेश का आरम्भ हुआ हैं भगवान कहते है। कि आतमज्ञानी पुरूषों के जीवन बिताने के अनादिकाल से दो मार्ग चले आ रहे हैं (गीता,3/3) (1) पूर्ण आत्मज्ञानी प्राप्त करने पर जहाँ शुक सरीखे पुरूष संसार छोड़कर आनन्द से भिक्षा मांगते फिरते हैं, वहाँ जनक सरीखे दूसरे आत्मज्ञानी ज्ञान के परश्चात् भी स्वधर्मानुसार लोगों के कल्याणार्थ संसार के सैकड़ों कर्मों में अपना समय लगाया करते हैं। पहले मार्ग को सांख्य या सांख्यनिष्ठा कहते हैं और दूसरे को कर्मयोग कहते हैं। यद्यपि दोनों निष्ठाएं प्रचलित हैं, तथापि इनमें कर्मयोग ही अधिक श्रेष्ठ है। आत्म का न तो कभी जन्म होता है और न वह मरती ही है। ऐसा भी नहीं है कि वह एक बार होकर फिर होने की नहीं। यह आज, नित्य, शाश्वत और पुरातन है, एवं शरीर का वध हो जाए तो भी यह मारी नहीं जाती। जिस प्रकार कोइ मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़कर नए वस्त्रों को धारण करता है, उसी प्रकार देही शरीर का स्वामी आत्मा पुराने शरीर को त्यागकर दूसरा नया शरीर धारण करती है। (गीता, 2/20–22)।

अतः जन्म मृत्यु के विषय में व्यर्थ का शोक न करके मनुष्य को अपना कर्म करते जाना चाहिए। धर्मानुसार कर्म ही श्रेष्ठ है क्योंकि इस कर्मयोग में एक बार आरम्भ किए हुए कर्म का नाश नहीं होता ओर आगे भी कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती, अर्थात् कर्मयोग–मार्ग में यदि एक जन्म में सिद्धि न मिले तो किया हुआ कर्म व्यर्थ न जाकर अगले जन्म में उपयोगी होता है और प्रत्येक जन्म में इसकी वृद्धि होती है, एवं अन्त में कभी–न–कभी सच्ची सद्गति मिलती ही है(गीता, 2/20–22)। 'अनेक प्रकार के कर्मों (यज्ञगान आदि) से ही जन्मरूप फल और जन्मजन्मातर में भोग तथा ऐश्वर्य मिलता है–ऐसा सोचने वाले लोगों का ध यान भोग और ऐश्वर्य पर ही लगा रहता है और वे कार्य–अकार्य का उचित निर्धारण नहीं कर पाते हैं और उन्हें सच्ची सिद्धि नहीं मिल पाती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि कर्म करने से पहले ही वे फल पाने की आशा लगा लेते हैं जिस कारण उनका ध्यान व मन कर्म पर नहीं, अपितु फल पर लगा रहता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. रवीन्द्र नाथ मुकर्जी : भारतीय समाज एवं संस्कृति विवेक प्रकाशन, जवाहर नगर,दिल्ली।
2. रवि प्रकाश पांडेय : भारतीय सामाजिक विचार, विजय प्रकाशन मंदिर, सुड़िया, वाराणसी।
3. जी० के० अग्रवाल : भारतीय सामाजिक संस्थाएँ आगरा बुक स्टोर, आगरा।
4. महाजन एवं महाजन : सामाजिक विचारधारा के आधार, विवेक प्रकाशन, जवाहर नगर, दिल्ली।

*****

PIF/6.500 *ASVS Reg. No. AZM 561/2013-14*